

## Chapter ग्यारह

### जड़ भरत द्वारा राजा रहुगण को शिक्षा

इस अध्याय में ब्राह्मण जड़ भरत द्वारा रहुगण को दी गई शिक्षाएँ विस्तार से दी गई हैं। वे राजा से कहते हैं, “आप अधिक अनुभवी नहीं हैं, तो भी आप विद्वान होने का दिखावा कर रहे हैं क्योंकि आप अपने ज्ञान से अतिगर्वित हैं। वास्तव में जो व्यक्ति दिव्य पद पर स्थित होता है, वह उस सामाजिक व्यवहार की परवाह नहीं करता जिससे आध्यात्मिक प्रगति में बाधा पहुँचती है। सामाजिक व्यवहार का क्षेत्र कर्मकाण्ड अर्थात् भौतिक लाभ है। ऐसे कार्यों से कोई आत्म-उन्नति नहीं कर सकता। बद्धजीव सदैव ही प्रकृति के गुणों से पराजित होता रहता है, जिसके फलस्वरूप से उसका सरोकार भौतिक लाभों, शुभ तथा अशुभ वस्तुओं से ही रहता है। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि इन्द्रियों का राजा मन जन्म-जन्मांतर भौतिक कार्यों में ही व्यस्त रहता है। अतः वह लगातार विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करता है और दुखदायक भौतिक स्थितियों से कष्ट उठाता है। इसी मानसिक कूट-रचना के आधार पर सामाजिक व्यवहार को सूत्रबद्ध किया गया है। यदि मनुष्य का मन इन कार्यों में लिप्त रहता है, तो वह निश्चित रूप में इसी संसार में बँधा रहता है। विभिन्न मतों के अनुसार ग्यारह या बारह प्रकार की मानसिक गति-विधियाँ होती हैं, जो सैकड़ों हजारों रूपों में रूपान्तरित की जा सकती हैं। जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह इन मानसिक कूट रचनाओं के वशीभूत होता है और अन्त में

माया द्वारा नियंत्रित होने लगता है। जो जीव मानसिक कूट-रचनाओं से मुक्त है, वह भौतिक कल्मष से रहित शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है। जीव दो प्रकार के होते हैं—जीवात्मा तथा परमात्मा। जो परम-आत्मा है, वही भगवान् वासुदेव कृष्ण हैं। वही सबों के हृदयों में प्रविष्ट होकर उनके विभिन्न कार्यों को नियंत्रित करता है। इसीलिए वह समस्त जीवात्माओं का परम आश्रय है। मनुष्य को परम आत्मा तथा उसके साथ अपने पारस्परिक सम्बन्ध का तभी बोध होता है जब वह सामान्य व्यक्तियों की अवांछित संगति से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार से वह अविद्या के सागर को पार करने के लिए पात्र बन सकता है। बहिरंगा शक्ति के प्रति आसक्ति ही बन्धन का मूल कारण है। मनुष्य को चाहिए कि मानसिक कूट-रचनाओं पर विजय प्राप्त करे, क्योंकि जब तक ऐसा नहीं किया जाता, तब तक वह भौतिक चिन्ताओं से मुक्त नहीं हो सकता। यद्यपि मानसिक कूट-रचनाओं का कोई महत्त्व नहीं है, तो भी उनका प्रभाव विलक्षण होता है। मन पर नियंत्रण रखने में ढील नहीं बरतनी चाहिए। यदि ढील बरती जाती है, तो मन इतना प्रबल हो जाता है कि मनुष्य अपनी सही स्थिति तुरन्त भूल जाता है। वह यह भूल जाता है कि वह कृष्ण का शाश्वत दास है और उसका एकमात्र कर्तव्य कृष्ण-भक्ति (कृष्णभावनामृत) है। माया के वश में होकर वह इन्द्रिय-सुखों का ही सेवन करने लगता है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् तथा उसके भक्त की सेवा रूपी खड्ग से मानसिक कूट-रचनाओं का अन्त कर दे ( गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ) ।

ब्राह्मण उवाच

अकोविदः कोविदवादवादान्

वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः ।

न सूरयो हि व्यवहारमेनं

तत्त्वावमर्शनं सहामनन्ति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणः उवाच—ब्राह्मण ने कहा; अकोविदः—अनुभवहीन; कोविद-वाद-वादान्—अनुभवी व्यक्तियों के द्वारा प्रयुक्त शब्द; वदसि—तुम बोल रहे हो; अथो—अतः; न—नहीं; अति-विदाम्—अत्यन्त अनुभवी व्यक्तियों का; वरिष्ठः—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण; न—नहीं; सूरयः—ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति; हि—निस्सन्देह; व्यवहारम्—सांसारिक तथा सामाजिक आचरण ( कर्म ); एनम्—यह; तत्त्व—सत्य का; अवमर्शनं—बुद्धि द्वारा उत्तम न्याय के; सह—साथ; आमनन्ति—विवेचना करते हैं।

ब्राह्मण जड़ भरत ने कहा—“हे राजन्, यद्यपि तुम थोड़ा भी अनुभवी नहीं हो तो भी तुम अत्यन्त अनुभवी व्यक्ति के समान बोलने का प्रयत्न कर रहे हो। अतः तुम्हें अनुभवी व्यक्ति नहीं

माना जा सकता। अनुभवी व्यक्ति कभी भी तुम्हारे समान स्वामी तथा सेवक अथवा भौतिक सुखों और दुखों के सम्बन्ध में इस प्रकार से नहीं बोलता। ये तो मात्र बाह्य कार्य हैं। कोई भी महान् अनुभवी व्यक्ति परम सत्य को जानते हुए इस प्रकार बातें नहीं करता।”

तात्पर्य : कृष्ण ने भी अर्जुन को इसी प्रकार प्रताड़ित किया था। अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे—“पांडित्यपूर्ण वचन बोलता हुआ भी तू उनके लिए शोक कर रहा है जो शोक के योग्य नहीं हैं” ( भगवद्गीता २.११)। इसी प्रकार सामान्य रूप से ९९.९ प्रतिशत लोग अत्यन्त अनुभवी परामर्शदाताओं की भाँति बातें करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वे वास्तव में आत्मज्ञान में शून्य होते हैं, अतः बच्चों के समान उट-पटाँग बोलते हैं। फलतः उनके वचनों को महत्ता नहीं प्रदान की जा सकती। मनुष्य को श्रीकृष्ण या उसके भक्त से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि कोई इस अनुभव अर्थात् आत्मज्ञान के आधार पर बोलता है, तो उसके शब्द मूल्यवान् होते हैं। इस समय सम्पूर्ण जगत मूर्खों से भरा पड़ा है। भगवद्गीता में ऐसे व्यक्तियों को मूढ कहा गया है। वे मानव समाज पर आधिपत्य जमाये रहने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे आत्मज्ञान से रहित हैं, अतः समूचा संसार अस्त-व्यस्त दशा में है। इन दयनीय परिस्थितियों से उबरने के लिए उन्हें कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और जड़ भरत, भगवान् कृष्ण तथा कपिल देव जैसे महापुरुषों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। भौतिक जीवन की समस्याओं को हल करने का यही एकमात्र उपाय है।

तथैव राजन्नुरुगार्हमेध-

वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।

न वेदवादिषु हि तत्त्ववादः

प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

तथा—अतः; एव—निस्संदेह; राजन्—हे राजन्; उरु—गार्ह—मेध—गृहस्थ जीवन से संबद्ध अनुष्ठान; वितान-विद्या—विस्तारशील ज्ञान; उरु—अत्यधिक; विजृम्भितेषु—रुचि रखने वालों में; न—नहीं; वेद-वादिषु—वेद वाक्य बोलने वाले; हि—निस्सन्देह; तत्त्व-वादः—आत्म-तत्त्व; प्रायेण—प्रायः; शुद्धः—समस्त कल्मषों से रहित, विशुद्ध; नु—निस्संदेह; चकास्ति—प्रतीत होते हैं; साधुः—भक्ति को प्राप्त पुरुष।

हे राजन्, स्वामी तथा सेवक, राजा तथा प्रजा इत्यादि के प्रसंग तो भौतिक विषय हैं। वेदों में प्रतिपादित भौतिक विषयों में रुचि रखने वाले व्यक्ति यज्ञों को करके तथा भौतिक विषयों के प्रति श्रद्धालु बने रहने पर तुले रहते हैं। ऐसे लोगों को कभी आत्म-तत्त्व प्रकट नहीं हो पाता।

**तात्पर्य :** इस श्लोक में दो शब्द महत्त्वपूर्ण हैं— वेद-वाद तथा तत्त्व-वाद। भगवद्गीता अनुसार (२.४२-४३), जो लोग वेदों में ही आसक्त हैं और वेदों या वेदान्तसूत्र का उद्देश्य नहीं समझते वे वेदवादरता: हैं।

*यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।*

*वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥*

*कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।*

*क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥*

“अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन अलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, सत्ता और भोगों को देने वाले नाना प्रकार के सकाम कर्मों की संस्तुति है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलाषा के कारण ही वे ऐसा कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।”

वेदवाद अनुयायी सामान्य रूप से कर्मकाण्ड के प्रति रुचि रखते हैं। इससे उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वे प्रायः चातुर्मास्य पद्धति का अभ्यास करते हैं। *अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-याजिनः सुकृतं भवति*—जो चातुर्मास्य-यज्ञ करता है, वह पवित्र हो जाता है और पवित्र होने पर वह स्वर्ग को जा सकता है ( *ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्व-स्थाः* )। वेदों के कुछ अनुयायी कर्मकाण्ड का पालन करते हैं जिससे वे जीवन के उच्चतर स्तर को प्राप्त हों। किन्तु अन्यो का तर्क है कि वेदों का उद्देश्य यह नहीं है। *तद् यथैवेह कर्म-जितः लोकः क्षीयते एवम् एवम् उत्र पुण्य-जितः लोकः क्षीयते*। इस संसार में उच्च कुल, उच्च शिक्षा, रूप अथवा धन के कारण कोई भी पुरुष उच्च बन सकता है। ये पूर्वजन्म में किये गये पुण्यों के उपहार हैं; किन्तु जब पुण्यकर्मों का भण्डार समाप्त हो जाता है, तब ये भी समाप्त हो जाते हैं। यदि हम पुण्यकर्मों में आसक्त रहें तो अगले जीवन में हमें ये सारी सुविधाएँ मिल सकती हैं और हम स्वर्ग लोक में जन्म ले सकते हैं। किन्तु इन सबका अन्त होना है— *क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोकं विशन्ति* ( *भगवद्गीता ९.२१* )—पुण्यकर्मों के क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में प्रवेश करना पड़ता है। वैदिक आदेशों के अनुसार वेदों का मुख्य उद्देश्य पुण्यकर्म करना नहीं है। वेदों का मुख्य उद्देश्य तो *भगवद्गीता* में विवेचित है। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*—वेदों का मुख्य उद्देश्य तो भगवान् श्रीकृष्ण को जानना है। जो वेदवादी हैं, वे वस्तुतः परम ज्ञानी नहीं हैं और ज्ञान-काण्ड (ब्रह्मवादी) के अनुयायी भी पूर्ण नहीं हैं।

किन्तु जब कोई उपासना के धरातल पर पहुँचकर भगवान् की उपासना अंगीकार कर लेता है, तो वह पूर्ण हो जाता है ( *आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्* )। वेदों में विभिन्न देवताओं की उपासना तथा यज्ञों के अनुष्ठान का उल्लेख तो है, किन्तु ऐसी उपासना निम्नकोटि की है क्योंकि उपासकों को ज्ञात नहीं है कि परम लक्ष्य तो विष्णु हैं ( *न ते विदुः स्वार्थ-गतिं हि विष्णुम्* )। जब कोई विष्णु-आराधना अथवा भक्तियोग के धरातल पर आता है, तो उसे सिद्धि प्राप्त होती है। अन्यथा, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, वह तत्त्ववादी न होकर वेदवादी (वेदों का अन्धा अनुयायी) होता है। वेदवादी तब तक भौतिक कल्मष से शुद्ध नहीं हो पाता जब तक वह तत्त्ववादी नहीं बन जाता, अर्थात् तत्त्व यानी परम सत्य को नहीं जान लेता। तत्त्व भी तीन प्रकार से अनुभव किया जाता है—*ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्दते*। तत्त्व का ज्ञान होने पर भी भगवान्, विष्णु और उनके अंशों की उपासना करते रहना चाहिए अन्यथा मनुष्य इतने पर भी अपूर्ण रहेगा। *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*—अनेक जन्मों के पश्चात् वास्तविक ज्ञानी कृष्ण की शरण में जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि अल्पज्ञानी मनुष्य भगवान्, ब्रह्म या परमात्मा को नहीं समझ सकता, किन्तु वेदों का अध्ययन कर लेने के बाद तथा परम सत्य श्रीभगवान् का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य पूर्णज्ञान के पद पर माना जाता है।

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्

वरीयसीरपि वाचः समासन् ।

स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं

न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तस्य—उसका ( वेदपाठी का ); तत्त्व-ग्रहणाय—वैदिक ज्ञान के वास्तविक प्रयोजन को स्वीकारने के लिए; साक्षात्—प्रत्यक्ष; वरीयसीः—परम आदरणीय; अपि—यद्यपि; वाचः—वेद वाक्य; समासन्—अत्यधिक हो गया; स्वप्ने—स्वप्न में; निरुक्त्या—उदाहरण से; गृह-मेधि-सौख्यम्—इस जगत के भीतर सुख; न—नहीं; यस्य—जिसका; हेय-अनुमितम्—तुच्छ जान पड़ने से; स्वयम्—स्वतः; स्यात्—होवे।

स्वप्न मनुष्य को स्वतः झूठा और व्यर्थ लगने लगता है। इसी प्रकार उसे इस लोक में अथवा स्वर्ग में, इसी जीवन में अथवा अगले जन्म में, भौतिक सुख की कामना तुच्छ प्रतीत होने लगती है। जब उसे इसका बोध हो जाता है, तो श्रेष्ठ साधन होने पर भी वेद सत्य का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में अपर्याप्त लगने लगते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* ( २.४५ ) में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया कि वह प्रकृति के तीन गुणों

से प्रेरित भौतिक कार्यकलापों के प्रति अतीत (दिव्य) बने ( त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ) । वैदिक अध्ययन का उद्देश्य प्रकृति के तीन गुणों के विषयों (कार्यों) का लंघन कर जाना है। निस्संदेह, इस संसार में सात्त्विक गुण को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और सत्त्व गुण पद प्राप्त होने पर मनुष्य स्वर्ग को जा सकता है। किन्तु यह कोई सिद्धि नहीं है। मनुष्य को तो यह निष्कर्ष तक पहुँच जाना चाहिए कि सत्त्वगुण पद भी उत्तम नहीं है। स्वप्न में भले ही कोई यह देखे कि वह राजा बन गया है, उसके स्त्री, संतान इत्यादि हैं, किन्तु स्वप्न के अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यह सब मिथ्या है। इसी प्रकार आत्ममोक्ष चाहने वाले पुरुष के लिए समस्त भौतिक सुख अवांछनीय हैं। जब तक मनुष्य इस निष्कर्ष तक नहीं पहुँच जाता कि किसी भी भौतिक सुख से उसे कुछ सरोकार नहीं, तब तक उसे तत्त्व-ज्ञान नहीं हो सकता। सभी कर्मी, ज्ञानी तथा योगी एक न एक भौतिक उन्नति चाहते हैं। कर्मी शारीरिक सुविधा के लिए अहर्निश कार्य करते हैं, जबकि ज्ञानी लोग यही चिन्तन करते रहते हैं कि कर्म के बन्धन से वे किस प्रकार छूटकर ब्रह्मतेज में मिल जाएं। योगीजन भौतिक सिद्धि और जादुई शक्ति प्राप्त करने के पीछे पड़े रहते हैं। ये सभी लोग भौतिक दृष्टि से पूर्ण बनने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भक्त अत्यन्त सरलतापूर्वक भक्ति के निर्गुण पद को प्राप्त होता है; फलतः भक्त के लिए कर्म, ज्ञान तथा योग के फल तुच्छ हैं। इसलिए केवल भक्त ही तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त होता है, अन्य कोई नहीं। निस्संदेह, ज्ञानी का पद कर्मी से श्रेष्ठ है, किन्तु यह पद भी अपर्याप्त है। ज्ञानी को वास्तव में मुक्त होना चाहिए और मुक्ति के बाद ही वह भक्ति कर सकता है ( मद्भक्तिं लभते पराम् ) ।

यावन्मनो रजसा पूरुषस्य

सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम् ।

चेतोभिराकूतिभिरातनोति

निरङ्कुशं कुशलं चेतारं वा ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; मनः—मन; रजसा—रजोगुण से; पूरुषस्य—जीवात्मा का; सत्त्वेन—सतोगुण से; वा—अथवा; तमसा—तमोगुण से; वा—अथवा; अनुरुद्धम्—नियंत्रित; चेतोभिः—ज्ञानेन्द्रियों से; आकूतिभिः—कर्मेन्द्रियों से; आतनोति—फैलाता है; निरङ्कुशम्—हाथी के समान स्वच्छन्द ( जिसको अंकुश से वश में लिया जाता है ); कुशलम्—कुशलता, कल्याण; च—भी; इतरम्—कुशलता के अतिरिक्त अर्थात् पापकर्म; वा—अथवा ।

जब तक जीवात्मा का मन तीन गुणों ( सतो, रजो तथा तमोगुणों ) से दूषित रहता है, तब तक वह स्वच्छन्द, अनियंत्रित हाथी के समान रहता है। वह इन्द्रियों का उपयोग करके शुभ तथा

अशुभ कर्मों के क्षेत्र को केवल बृहत्तर बनाता है। परिणाम यह निकलता है कि जीवात्मा इस संसार में भौतिक कर्मों के कारण मात्र सुख तथा दुख का अनुभव करता है।

तात्पर्य : चैतन्यचरितामृत में बतलाया गया है कि शुभ तथा अशुभ कर्म दोनों ही भक्ति के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं। भक्ति का अर्थ है मुक्ति—भौतिक बन्धन से छुटकारा, किन्तु शुभ तथा अशुभ कर्मों से इस भौतिक संसार में उलझे रहना पड़ता है। यदि वेदों में वर्णित शुभाशुभ कर्मों के प्रति मन आकृष्ट हो जाता है, तो मनुष्य सदैव अंधकार में रहता है; उसे परम पद कभी नहीं प्राप्त हो पाता। चेतना को तमो से रजो अथवा रजो को सतो में बदलते रहने से समस्या का समाधान नहीं होता। जैसाकि भगवद्गीता (१४.२६) में कहा गया है—स गुणांसमतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते। मनुष्य को दिव्य पद पर पहुँचना है अन्यथा जीवन का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता।

स वासनात्मा विषयोपरक्तो

गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा ।

बिभ्रत्पृथङ्नामभि रूपभेद-

मन्तर्बहिष्ठं च पुरैस्तनोति ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वासना—अनेक कामनाओं से युक्त; आत्मा—मन; विषय-उपरक्तः—भौतिक सुख में आसक्त इन्द्रियतृप्ति; गुण-प्रवाहः—सत्त्व, रजो अथवा तमोगुण की शक्ति से प्रेरित; विकृतः—काम आदि से विरूपित; षोडश-आत्मा—प्रमुख सोलह तत्त्वों ( पाँच स्थूल तत्त्व तथा दस ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन ) का प्रधान तत्त्व; बिभ्रत्—घूमते हुए; पृथक्-नामभिः—विभिन्न नामों से; रूप-भेदम्—विभिन्न रूप धारण करते हुए; अन्तः-बहिष्ठम्—प्रथम कोटि या निम्न कोटि का गुण, उत्तमता या अधमता; च—तथा; पुरैः—विभिन्न शारीरिक रूपों से; तनोति—प्रकट करता है।

शुभ तथा अशुभ कर्मों की आकांक्षाओं में लीन रहने के कारण मन स्वभावतः काम तथा क्रोध के विकारों से ग्रस्त होता रहता है। इस प्रकार वह भौतिक इन्द्रिय-सुख के प्रति आकृष्ट होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से संचालित होता है। ग्यारह इन्द्रियों तथा पाँच तत्त्वों—इन सब सोलह कलाओं में से मन प्रधान है। अतः मन के ही कारण विभिन्न देवताओं, मनुष्यों, पशुओं तथा पक्षियों के शरीरों में जन्म लेना पड़ता है। उच्च या निम्न पद पर स्थित होने के अनुसार ही मन उच्च या निम्न भौतिक देह अंगीकार करता है।

तात्पर्य : चौरासी लाख योनियों में देहान्तरण का कारण विशेष भौतिक गुणों से मन का दूषित होना है। मन के ही कारण आत्मा को शुभ तथा अशुभ कर्म करने पड़ते हैं। इस संसार में बने रहना

भौतिक प्रकृति की तरंगों के समान है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिविनोद ठाकुर का कहना है— *मायार वशे याच्छ भेसे, खाच्छ हाबुडुबु भाइ*—“मेरे भाई, आत्मा माया के अधीन है और तुम उसकी तरंगों में बह रहे हो।” *भगवद्गीता* (३.२७) में भी इस की पुष्टि हुई है—

*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणै कर्माणि सर्वशः ।*

*अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥*

“सम्पूर्ण कर्म वास्तव में प्रकृति के गुणों से सम्पन्न होते हैं परन्तु गुणों से उत्पन्न अहंकार द्वारा मोहित जीवात्मा अपने को कर्ता मान बैठता है।”

भौतिक अस्तित्व (संसार) का अर्थ है भौतिक प्रकृति द्वारा पूर्ण नियंत्रण। प्रकृति के आदेशों को अंगीकार करने वाला केन्द्र मन ही है। इस प्रकार जीवात्मा कल्प-कल्पान्तर तक विभिन्न देह धारण करता रहता है।

*कृष्ण भुलि' सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख ।*

*अतएव माया तारे देय संसार-दुःख ॥*

(चैतन्य चरितामृत मध्य २०.११७)

जीवात्मा द्वारा श्रीकृष्ण के विस्मरण से ही वह प्रकृति के नियमों से बँध जाता है।

दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं

कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति ।

आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा

स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दुःखम्—अशुभ कर्मों के कारण दुख; सुखम्—शुभ कर्म से उत्पन्न सुख; व्यतिरिक्तम्—मोह; च—तथा; तीव्रम्—अत्यन्त कठिन; काल-उपपन्नम्—काल-क्रम में प्राप्त; फलम्—फल; आव्यनक्ति—उत्पन्न करता है; आलिङ्ग्य—आलिंगन करते हुए; माया-रचित—प्रकृति द्वारा उत्पन्न; अन्तः-आत्मा—मन; स्व-देहिनम्—स्वयं जीव; संसृति—संसार की प्रतिक्रियाओं का; चक्र-कूटः—जो जीव को चक्र में डाल देता है।

सांसारिक मन जीव की आत्मा को आच्छादित करके उसे विभिन्न योनियों में ले जाता है। इसे संसृति कहते हैं। मन के ही कारण जीवात्मा को भौतिक दुख तथा सुख का बोध होता है। इस प्रकार से मोहग्रस्त यह शुभ तथा अशुभ विषयों तथा उनके कर्म को उत्पन्न करता है। इस प्रकार आत्मा बद्ध हो जाता है।



**तात्पर्य :** इस संसार में प्रकृति के वशीभूत होकर मानसिक विषयों से सुख तथा दुख उत्पन्न होते हैं। जीवात्मा मोहग्रस्त होकर विभिन्न उपाधियों के अन्तर्गत अनवरत बद्ध जीवन बिताता रहता है। ऐसी जीवात्माएँ *नित्य बद्ध* कही जाती हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मन ही बद्ध जीवन के लिए उत्तरदायी होता है, इसीलिए समस्त योगक्रियाएँ मन तथा इन्द्रियों को नियंत्रित करने के लिए होती हैं। यदि मन वश में हो जाता है, तो इन्द्रियाँ स्वयमेव नियंत्रित रहती हैं और इस तरह आत्मा शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल से बच जाता है। यदि मन श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अनुरक्त रहे ( *स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोः* ) तो इन्द्रियाँ स्वतः ईश्वर की सेवा में लग जाती हैं। जब मन तथा इन्द्रियाँ भक्ति में लग जाती हैं, तो जीवात्मा सहज ही कृष्ण-भक्त बन जाता है। जब कोई मनुष्य निरन्तर कृष्ण का ध्यान धरता है, तो वह परम योगी बन जाता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है ( *योगिनाम् अपि सर्वेषां मदगतेनान्तरात्मना* )। यह *अन्तरात्मा* ही मन है जो प्रकृति के द्वारा बँधा हुआ है। जैसाकि यहाँ कहा गया है—*मायारचितान्तरात्मा स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः*—मन परम शक्तिमान होने के कारण जीवात्मा को ढका-ओढ़ा करके उसे भवसागर की तरंगों में ला पटकता है।

**तावानयं व्यवहारः सदाविः**

**क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः ।**

**तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति**

**गुणागुणत्वस्य परावरस्य ॥ ७ ॥**

**शब्दार्थ**

तावान्—उस समय तक; अयम्—यह; व्यवहारः—कृत्रिम उपाधियाँ ( मोटा, दुबला दैव या मानवीय ); सदा—सदैव; आविः—प्रकट करते हुए; क्षेत्र-ज्ञ—जीवात्मा का; साक्ष्यः—प्रमाण; भवति—है; स्थूल-सूक्ष्मः—मोटा तथा दुबला; तस्मात्—अतः; मनः—मन; लिङ्गम्—कारण; अदः—यह; वदन्ति—कहते हैं; गुण-अगुणत्वस्य—गुणों अथवा अगुणों का; पर-अवरस्य—तथा जीवन की उच्च और निम्न दशाएँ।

मन जीवात्मा को इस संसार में विभिन्न योनियों में फिरता रहता है, जिससे जीवात्मा को मनुष्यों, देवताओं, स्थूल-कृश मनुष्यों इत्यादि विविध रूपों का लौकिक अनुभव होता है। विद्वानों का कथन है कि देह का रूपायन बन्धन तथा मुक्ति का कारण मन ही है।

**तात्पर्य :** जिस प्रकार मन बन्धन का कारणस्वरूप बनता है उसी प्रकार मुक्ति का भी कारणस्वरूप यही बन सकता है। मन को यहाँ *पर-अवर* कहा गया है। *पर* का अर्थ “दिव्य” तथा *अवर* का अर्थ “भौतिक” है। जब मन ईश्वर की सेवा में अनुरक्त रहता है ( *स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोः* ) तो इसे

पर अर्थात् दिव्य कहते हैं। किन्तु जब यह इन्द्रियतृप्ति में व्यस्त रहता है, तो इसे *अवर* या भौतिक कहते हैं। इस समय बद्ध अवस्था में हमारा मन पूर्णतया इन्द्रियतृप्ति में लगा हुआ है, किन्तु भक्ति के द्वारा उसे शुद्ध करके आदि कृष्णभावनामृत में लाया जा सकता है। हमने प्रायः अम्बरीष महाराज का दृष्टान्त दिया है। *स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोः वचांसि वैकुण्ठ-गुणानुवर्णने।* कृष्णभावनामृत में मन पर नियंत्रण आवश्यक है। जीभ का उपयोग कृष्ण के संदेश को प्रसारित करने और ईश्वर का गुणगान करने अथवा कृष्ण का “प्रसाद” प्राप्त करने में किया जा सकता है। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ*—जब मनुष्य जीभ का उपयोग ईश्वर की सेवा में करता है, तो अन्य इन्द्रियाँ शुद्ध हो सकती हैं। जैसाकि *नारदपंचरात्र* में कहा गया है—*सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तं तत्-परत्वेन निर्मलम्*—मन तथा इन्द्रियों के शुद्ध हो जाने पर मनुष्य का सम्पूर्ण अस्तित्व शुद्ध हो जाता है तथा उसकी सारी उपाधियाँ शुद्ध हो जाती हैं। तब मनुष्य अपने को मनुष्य, देवता, कुत्ता, बिल्ली, हिन्दू, मुसलमान इत्यादि कुछ भी नहीं मानता। मन तथा इन्द्रियों के शुद्ध होने और कृष्ण की सेवा में पूर्णतया अर्पित होने पर मुक्ति मिल सकती है और मनुष्य भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः

क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात् ।

यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्

शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम् ।

पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं

वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

गुण-अनुरक्तम्—गुणों के प्रति आसक्त होकर; व्यसनाय—संसार में बद्ध होने के लिए; जन्तोः—जीवात्मा के; क्षेमाय—परम कल्याण के लिए; नैर्गुण्यम्—गुणों से अप्रभावित रहकर; अथो—इस प्रकार; मनः—मन; स्यात्—हो जाता है; यथा—जिस प्रकार (जितना कि); प्रदीपः—दीपक; घृत-वर्तिम्—घी के भीतर रखी बत्ती; अश्नन्—जलकर; शिखाः—ज्वाला, लौ; सधूमाः—धुँआ से युक्त; भजति—भोगती है; हि—निश्चय ही; अन्यदा—अन्यथा; स्वम्—अपने आप; पदम्—पद; तथा—उसी तरह; गुण-कर्म-अनुबद्धम्—गुणों तथा कर्मों से बद्ध; वृत्तीः—नाना प्रकार के कार्य; मनः—मन; श्रयते—शरण लेता है; अन्यत्र—अन्यथा; तत्त्वम्—अपनी मूल स्थिति की।

जब जीवात्मा का मन सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति में लीन हो जाता है, तो जीवन-बंधन तथा सांसारिक कष्ट प्राप्त होते हैं। किन्तु जब वह उनसे अनासक्त हो जाता है, तो वही मुक्ति का कारण बनता है। जब दीपक की बत्ती से ठीक-ठीक लौ नहीं उठती तो दीपक पर कालिख लग जाती है। किन्तु घी से भरा होने पर यह ठीक से जलता है और तीव्र प्रकाश निकलता है। इसी

प्रकार जब मन इन्द्रिय-तृप्ति में संलग्न रहता है, तो इससे कष्ट प्राप्त होते हैं और जब यह उनसे विरक्त हो जाता है, तो कृष्णभावनामृत का आदि प्रकाश निकलने लगता है।

तात्पर्य : अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि मन ही इस जीवन तथा मुक्ति का कारण-स्वरूप है। मन के ही कारण प्रत्येक प्राणी कष्ट उठा रहा है, अतः यह आवश्यक है कि मन को ठीक से प्रशिक्षित किया जाय या भौतिक आसक्ति से इसे विमल करके ईश्वर की सेवा में लगाया जाये। इसे ही आत्म-वृत्ति कहते हैं। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (१४.२६) में इस प्रकार हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

“जो पूर्ण रूप से मेरी भक्ति करता है और किसी भी स्थिति में उससे गिरता नहीं वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का लंघन करके ब्रह्म-स्तर पर पहुँच जाता है।”

हमें अपने मन को पूर्णतया कृष्णभावनाभावित कार्यों में लगाना चाहिए। तब यह हमारी अपने घर लौटने के लिए मुक्ति और परम धाम वापस जाने का कारण बन जायेगा। किन्तु यदि हम सांसारिक विषयों में इसे इन्द्रियतृप्ति के लिए लगाये रखेंगे तो यह अविरत बन्धन का कारण बनेगा और हम इसी संसार में विविध देह धारण करते रहेंगे और अपने विभिन्न कार्यों के फल भोगते रहेंगे।

एकादशासन्मनसो हि वृत्तय

आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः ।

मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां

वदन्ति हैकादश वीर भूमीः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एकादश—ग्यारह; आसन्—हैं; मनसः—मन की; हि—निश्चय ही; वृत्तयः—वृत्तियाँ; आकूतयः—कर्मेन्द्रियाँ; पञ्च—पाँच; धियः—ज्ञानेन्द्रियाँ; अभिमानः—अहंकार; मात्राणि—विभिन्न विषय; कर्माणि—विभिन्न कर्म; पुरं च—तथा शरीर, समाज, राष्ट्र, परिवार या जन्मभूमि; तासाम्—इन कार्यों का; वदन्ति—कहते हैं; ह—ओह; एकादश—ग्यारह; वीर—हे वीर पुरुष; भूमीः—कार्य-क्षेत्र, कर्मक्षेत्र।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। इनके साथ ही अहंकार भी है। इस प्रकार मन की ग्यारह प्रकार की वृत्तियाँ हैं। हे वीर, इन्द्रियों के विषय ( यथा शब्द और स्पर्श ), कायिक कर्म ( यथा मलत्याग ) तथा विभिन्न प्रकार के देह, समाज, मैत्री तथा व्यक्तित्व—इन सबको पण्डित लोग मन के कार्य के अन्तर्गत मानते हैं।

तात्पर्य : मन पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों का नियामक है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपना कार्यक्षेत्र (विषय) होता है। प्रत्येक दशा में मन ही स्वामी या नियामक है। अहंकारवश मनुष्य अपने को शरीर मानने लगता है और “यह मेरा शरीर, मेरा घर, मेरा परिवार, मेरा समाज, मेरा राष्ट्र इत्यादि” के रूप में सोचता रहता है। ये झूठी उपाधियाँ अहंकार के विस्तार के कारण हैं। इस तरह मनुष्य अपने को यह या वह सोचता है और यह जीवात्मा संसार में उलझ जाता है।

गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि

विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।

एकादशं स्वीकरणं ममेति

शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

गन्ध—गन्ध, महक; आकृति—रूप; स्पर्श—छूने का बोध; रस—स्वाद; श्रवांसि—तथा शब्द; विसर्ग—मलत्याग; रति—संभोग; अर्ति—गति, संचलन; अभिजल्प—भाषण; शिल्पाः—पकड़ना या छोड़ना, लेना-देना; एकादशम्—ग्यारह; स्वीकरणम्—स्वीकार करते हुए; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; शय्याम्—यह शरीर; अहम्—मैं; द्वादशम्—बारहवाँ; एके—कुछ लोगों ने; आहुः—कहा है।

शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद (रस) तथा गन्ध—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार हैं। भाषण, स्पर्श, संचलन, मलत्याग तथा संभोग—ये कर्मेन्द्रियों के कार्य हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य धारणा है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य सोचता है कि, “यह मेरा शरीर है, यह मेरा समाज है, यह मेरा परिवार है, यह मेरा राष्ट्र है।” यह ग्यारहवाँ व्यापार मन का है और मिथ्या अहंकार कहलाता है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार यह बारहवाँ व्यापार है और इसका कार्यक्षेत्र शरीर है।

तात्पर्य : ग्यारह विषयों के लिए (व्यापार) भिन्न-भिन्न उत्पादन हैं। नाक से हम सूँघते हैं, आँखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं और इस प्रकार हम ज्ञान संचित करते हैं। इसी तरह हाथ, पाँव, लिंग, गुदा, मुख आदि कर्मेन्द्रियाँ हैं। जब मिथ्या अहंकार का विस्तार होता है, तो मनुष्य सोचता है, “यह मेरा शरीर, परिवार, समाज, देश है।”

द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-

रेकादशामी मनसो विकाराः ।

सहस्रशः शतशः कोटिशश्च

क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥ ११ ॥

## शब्दार्थ

द्रव्य—भौतिक पदार्थों ( विषयों ) से; स्व-भाव—स्वभाव से; आशय—संस्कृति ( संस्कार ) से; कर्म—पूर्व निर्धारित कर्मफल से; कालैः—समय से; एकादश—ग्यारह; अमी—ये सब; मनसः—मन के; विकाराः—रूपान्तर ( भेद ); सहस्रशः—हजारों में; शतशः—सैकड़ों में; कोटिशः च—तथा करोड़ों में; क्षेत्र-ज्ञतः—आदि भगवान् से; न—नहीं; मिथः—परस्पर; न—न तो; स्वतः—अपने आप से; स्युः—हैं।

भौतिक तत्त्व ( द्रव्य या विषय ), प्रकृति ( स्वभाव ), मूल कारण, संस्कार, भाग्य तथा समय ( काल )—ये सब भौतिक कारण हैं। इन भौतिक कारणों से विक्षुब्ध होकर ग्यारह वृत्तियाँ पहले सैकड़ों, फिर हजारों और तब करोड़ों भेदों में रूपान्तरित हो जाती हैं। किन्तु ये सभी भेद स्वतः परस्पर मिश्रण के द्वारा घटित नहीं होते वरन् वे श्रीभगवान् के आदेशानुसार होते हैं।

तात्पर्य : किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि भौतिक तत्त्वों की समस्त अन्तःक्रियाएँ, चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, जिनसे मन तथा चेतना में परिवर्तन होता है स्वतंत्र रूप से कार्य कर रही हैं। वे सब श्रीभगवान् के निर्देशन में घटित होती हैं। भगवद्गीता ( १५.१५ ) में श्रीकृष्ण कहते हैं कि ईश्वर सबों के हृदय में स्थित हैं ( सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च )। जैसाकि यहाँ पर उद्धृत है परमात्मा ( क्षेत्रज्ञ ) सबको आदेशित कर रहा है। जीवात्मा भी क्षेत्रज्ञ है, किन्तु परम क्षेत्रज्ञ तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही है। वह साक्षी और आज्ञा देने वाला है। उसी के निर्देशन में सब कुछ घटित होता है। जीवात्मा की विभिन्न वृत्तियाँ उसके अपने स्वभाव से अथवा आशाओं से उत्पन्न होती हैं और वह प्रकृति या माया के माध्यम से भगवान् द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है। शरीर, प्रकृति तथा तत्त्व भगवान् के आदेशाधीन हैं। स्वतः कार्य नहीं करते। प्रकृति ( माया ) न तो स्वतंत्र है न स्वतः क्रियाशील। जैसाकि भगवद्गीता ( ९.१० ) में पुष्टि हुई है, प्रकृति के पीछे श्रीभगवान् हैं—

*मयाध्यक्षेन प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।*

*हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥*

“हे कुन्तीपुत्र! यह प्रकृति ( माया ) मेरी अध्यक्षता में कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को रचती है। इस कारण इस जगत का बारम्बार सृजन और संहार होता है।”

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-

जीवस्य मायारचितस्य नित्याः ।

आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च

शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

क्षेत्र-ज्ञः—जीव; एताः—ये सब; मनसः—मन के; विभूतीः—विभिन्न वृत्तियाँ; जीवस्य—जीवात्मा की; माया-रचितस्य—माया द्वारा उत्पन्न; नित्याः—अनादि-काल से; आविर्हिताः—कभी-कभी प्रकट; क्वापि—कहीं; तिरोहिताः च—तथा अप्रकट; शुद्धः—शुद्ध; विचष्टे—इसे देखता है; हि—निश्चय ही; अविशुद्ध—अशुद्ध; कर्तुः—कर्ता का।

कृष्णचेतना से रहित जीव के मन में माया द्वारा उत्पन्न अनेक विचार तथा वृत्तियाँ होती हैं। वे अनन्त काल से विद्यमान रही हैं। कभी-कभी वे जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में प्रकट होती हैं, किन्तु सुषुप्तावस्था या समाधि में वे लुप्त हो जाती हैं। जो व्यक्ति इस जन्म में ही मुक्त हो चुका है, ( जीवन्मुक्त ) इन सब व्यापारों को स्पष्ट देख सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता ( १३.३ ) में कहा गया है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।* क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवों के दो भेद हैं—एक तो सामान्य जीव और दूसरे परम पुरुष ( परमात्मा )। सामान्य जीव अपने शरीर के विषय में कुछ हद तक ही जानता है, किन्तु परमात्मा समस्त देहियों के विषय में जानता है। सामान्य जीव स्थान-सापेक्ष हैं, किन्तु परमात्मा सर्वव्यापी हैं। इस श्लोक में क्षेत्रज्ञ सामान्य जीव के लिए प्रयुक्त है परम पुरुष के लिए नहीं। यह सामान्य जीव दो प्रकार का होता है—नित्य-बद्ध तथा नित्य-मुक्त। इनमें से पहला शाश्वत बद्ध रहने वाला है और दूसरा शाश्वत मुक्त रहता है। शाश्वत मुक्त जीव वैकुण्ठ जगत में रहता है और वह इस भौतिक जगत में कभी नहीं आता। जो भौतिक जगत में रहते हैं, वे नित्य बद्ध हैं। ये जीव मन को नियंत्रित करके मुक्त हो सकते हैं, क्योंकि बद्ध जीवन का कारण मन है। जब मन को प्रशिक्षित कर लिया जाता है और आत्मा उसके वश में नहीं रहता तो इसी भौतिक जगत में आत्मा मुक्त हो सकता है। मुक्त होने पर वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जीवन्मुक्त को पता होता है कि वह किस प्रकार बद्ध हुआ, अतः वह अपने को शुद्ध करने और भगवान् के धाम को वापस जाने का प्रयत्न करता है। नित्य बद्ध जीवात्मा नित्य बद्ध होता है क्योंकि वह मन से नियंत्रित होता है। बद्ध तथा मुक्त अवस्थाओं की तुलना सुप्त तथा जाग्रत अवस्थाओं से की जाती है। जो बेखबर होकर सोते हैं, वे नित्य-बद्ध हैं और जो जाग्रत हैं, वे अपने को भगवान् श्रीकृष्ण का नित्य अंश मानते हैं। अतः वे इस भौतिक जगत में भी श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर रहते हैं। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने पुष्टि की है—*ईहा यस्य हरेर्दास्ये।* श्रीकृष्ण की सेवा करने वाला मुक्त हो जाता है, भले

ही वह इस संसार में बद्ध जीवात्मा प्रतीत हो। *जीवन्मुक्तः स उच्यते*—प्रत्येक दशा में कोई तभी मुक्त माना जा सकता है जब उसका एकमात्र कार्य श्रीकृष्ण की सेवा करना हो।

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः  
 साक्षात्स्वयं ज्योतिरजः परेशः ।  
 नारायणो भगवान्वासुदेवः  
 स्वमाययात्मन्यवधीयमानः ॥ १३ ॥  
 यथानिलः स्थावरजङ्गमानाम्  
 आत्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत् ।  
 एवं परो भगवान्वासुदेवः  
 क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

क्षेत्र-ज्ञः—श्रीभगवान् ( श्लोक १२ में सामान्य जीव ); आत्मा—सर्वव्यापी; पुरुषः—असीम शक्ति वाला नियन्ता; पुराणः—आदि; साक्षात्—प्रत्यक्ष अनुभव तथा अधिकारियों से श्रवण करके; स्वयम्—व्यक्तिगत; ज्योतिः—ब्रह्मतेज प्रकट करने वाला; अजः—अजन्मा; परेशः—श्रीभगवान्; नारायणः—समस्त जीवों का आश्रय; भगवान्—छः पूर्ण ऐश्वर्यों से युक्त श्रीभगवान्; वासुदेवः—प्रकट तथा अप्रकट, सबों का आश्रय; स्व-मायया—अपनी शक्ति से; आत्मनि—अपने आप में अथवा सामान्य जीवों में; अवधीयमानः—नियन्ता के रूप में रह कर; यथा—जिस प्रकार; अनिलः—वायु; स्थावर—जड़, न चलने वाले जीव; जङ्गमानाम्—तथा जंगमों ( सचल ) का; आत्म-स्वरूपेण—परमात्मा रूप के द्वारा; निविष्टः—निहित; ईशेत्—नियंत्रण करता है; एवम्—इस प्रकार; परः—दिव्य; भगवान्—श्रीभगवान्; वासुदेवः—प्रत्येक पदार्थ के आश्रय; क्षेत्र-ज्ञः—क्षेत्रज्ञ नाम से अभिहित; आत्मा—प्राण शक्ति; इदम्—यह जगत के; अनुप्रविष्टः—भीतर प्रविष्ट।

क्षेत्रज्ञ दो प्रकार के हैं—जीवात्मा तथा श्रीभगवान्। ( जीवात्मा का वर्णन पीछे किया जा चुका है, यहाँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की विवेचना की जा रही है ) श्रीभगवान् सृष्टि का सर्वव्यापक कारण है। वह अपने में पूर्ण है और अन्यो पर आश्रित नहीं है। वह सुनकर तथा प्रत्यक्ष अनुभव ( दर्शन ) से देखा जाता है। वह आत्मतेजस्वी है और उसे जन्म, मृत्यु, जरा अथवा व्याधि कुछ भी नहीं सताते। वह ब्रह्मादि समस्त देवताओं का नियन्ता है। उसका नाम नारायण है और वह संसार के प्रलय के पश्चात् समस्त जीवात्माओं का आश्रय है। वह परम ऐश्वर्यवान है और समस्त भौतिक वस्तुओं का आश्रय है। अतः वह वासुदेव अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के नाम से जाना जाता है। अपनी शक्ति से ही वह समस्त जीवात्माओं के हृदयों में स्थित है, जिस प्रकार समस्त चराचर प्राणियों में वायु या जीवनीशक्ति ( प्राण ) रहती है। इस प्रकार वह शरीर को वश में रखता है। अपने अंश रूप में श्रीभगवान् समस्त देहों में प्रवेश करके उनको नियंत्रित करता रहता है।

**तात्पर्य :** इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१५.१५) में की गई है—*सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।* प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित परमात्मा के द्वारा प्रत्येक जीव शासित होता है। वह इस संसार को उत्पन्न करने वाला पुरुष—पुरुष-अवतार—है। प्रथम पुरुष-अवतार महाविष्णु हैं और वह महाविष्णु भगवान् श्रीकृष्ण के अंश के अंश मात्र हैं। श्रीकृष्ण के प्रथम विस्तार (प्रकाश) बलदेव हैं और वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न अन्य विस्तार हैं। वासुदेव ही *ब्रह्मज्योति* के मूल कारण हैं और यह *ब्रह्मज्योति* वासुदेव के शरीर की किरणों का विस्तार (प्रकाश) है।

*यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-*

*कोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्।*

*तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं*

*गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥*

“मैं आदि ईश्वर गोविन्द की पूजा करता हूँ जो परम शक्ति से समन्वित हैं। उनके दिव्य रूप का तेज निर्गुण ब्रह्म है जो परम, पूर्ण तथा अनन्त हैं और जो करोड़ों ब्रह्माण्डों में असंख्य लोकों को उनके ऐश्वर्यों सहित प्रदर्शित करता है।” (*ब्रह्म-संहिता* ५.४०)। *भगवद्गीता* (९.४) में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

*मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।*

*मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥*

“मेरे अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। सम्पूर्ण चराचर प्राणी मुझमें स्थित हैं, परन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।”

श्रीकृष्ण के अंश रूप सर्वव्यापी वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की यह स्थिति है।

**न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र**

**विधूय मायां वयुनोदयेन ।**

**विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो**

**वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत् ॥ १५ ॥**

शब्दार्थ

न—नहीं; यावत्—जब तक; एताम्—यह; तनु-भृत्—जिसने शरीर अंगीकार किया है, मनुष्य; नरेन्द्र—हे राजन्; विधूय मायाम्—संसार से उत्पन्न कल्मष को धोते हुए; वयुना उदयेन—वैदिक साहित्य तथा सत्संगति से दिव्य ज्ञान जगने के कारण;



विमुक्त-सङ्गः—समस्त संगति से मुक्त; जित-षट्-सपत्नः—छः शत्रुओं ( पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन ) को जीत कर; वेद—जानता है; आत्म-तत्त्वम्—आत्मतत्त्व को; भ्रमति—धूमता है; इह—इस संसार में; तावत्—तब तक ।

हे राजा रहूगण, जब तक बद्ध-आत्मा भौतिक देह को स्वीकार करता है और भौतिक सुख के कल्मष से मुक्त नहीं हो जाता तथा जब तक अपने छः शत्रुओं को जीत कर आत्मज्ञान को जागृत करके आत्म-साक्षात्कार के पद को प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक उसे इस जगत में विभिन्न स्थानों तथा नाना योनियों में घूमना पड़ता है ।

तात्पर्य : जब किसी मनुष्य का मन देहात्मबुद्धि में लिप्त रहता है, तो वह अपने को किसी एक राष्ट्र, परिवार, देश या जाति से सम्बद्ध मानता है । इन्हें उपाधियाँ कहते हैं । मनुष्य को इनसे मुक्त होना होता है ( सर्वोपाधि विनिर्मुक्तम् ) । जब तक मनुष्य इनसे मुक्त नहीं होता उसे इस संसार में बद्ध जीवन बिताते रहना पड़ता है । मनुष्य जीवन का लक्ष्य इन भ्रान्तियों को दूर करना है । यदि ऐसा नहीं किया जाता तो जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है और सभी भौतिक स्थितियों को भोगना पड़ता है ।

न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं

संसारतापावपनं जनस्य ।

यच्छोकमोहामयरागलोभ-

वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यावत्—जब तक; एतत्—यह; मनः—मन; आत्म-लिङ्गम्—आत्मा की झूठी उपाधि के रूप में; संसार-ताप—इस जगत के कष्टों का; आवपनम्—खेत; जनस्य—जीव का; यत्—जो; शोक—शोक का; मोह—मोह का; आमय—रोग का; राग—आसक्ति का; लोभ—लालच का; वैर—शत्रुता का; अनुबन्धम्—परिणाम; ममताम्—ममता; विधत्ते—देता है ।

इस संसार में आत्मा की उपाधि, यह मन, समस्त दुखों का मूल है । जब तक बद्ध जीवात्मा इस तथ्य को नहीं जानता, तब तक उसे देह की दयनीय दशा को स्वीकार करके इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न योनियों में घूमना पड़ता है । चूँकि यह मन रोग, शोक, मोह, राग, लोभ तथा वैर से ग्रस्त रहता है इस कारण से इस भौतिक संसार में बन्धन तथा झूठी ममता उत्पन्न होती है ।

तात्पर्य : मन भौतिक बन्धन तथा मुक्ति दोनों का कारण है । अशुद्ध मन सोचता है कि मैं ही देह हूँ, किन्तु शुद्ध मन जानता है कि वह भौतिक देह नहीं है अतः मन को समस्त भौतिक उपाधियों का मूल माना जाता है । जब तक जीवात्मा संसार के सम्पर्क तथा उसके कल्मषों से दूर नहीं रहता, तब तक यह जन्म, मृत्यु, रोग, मोह, लोभ तथा वैर में तल्लीन रहता है । इस प्रकार जीवात्मा बँध जाता है

और भौतिक कष्टों को भोगता रहता है।

भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्य-

मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः ।

गुरोर्हरेश्वरणोपासनास्त्रो

जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

भ्रातृव्यम्—बलवान् शत्रु को; एनम्—इस मन; तत्—वह; अदभ्र-वीर्यम्—अत्यधिक शक्तिमान; उपेक्षया—उपेक्षा से; अध्येधितम्—वृथा ही शक्ति में बढ़ा हुआ; अप्रमत्तः—मोहरहित; गुरोः—गुरु के; हरेः—श्रीभगवान् के; चरण—चरण कमलों का; उपासना-अस्त्रः—उपासना रूपी अस्त्र; जहि—जीत लो; व्यलीकम्—झूठा, मिथ्या; स्वयम्—अपने आप; आत्म-मोषम्—जीवात्मा की स्वाभाविक स्थिति को प्रच्छन्न करने वाला।

यह अनियंत्रित मन जीवात्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। यदि इसकी उपेक्षा की जाती है या इसे अवसर प्रदान किया जाता है, तो यह प्रबल से प्रबलतर होकर विजयी बन सकता है। यद्यपि यह यथार्थ नहीं है, किन्तु यह अत्यधिक प्रबल होता है। यह आत्मा की स्वाभाविक स्थिति को आच्छादित कर देता है। हे राजन्, इस मन को गुरु के चरणारविन्द तथा भगवान् की सेवा रूपी अस्त्र से जीतने का प्रयत्न कीजिये। इसे अत्यन्त सतर्कता से करें।

तात्पर्य : जिस एक अस्त्र से मन को जीता जा सकता है, वह है उपेक्षा। मन सदैव हमें इसे अथवा उसे कर लेने के लिए कहता रहता है; अतः हमें मन के आदेशों की उपेक्षा करने में पटु बनना चाहिए। मन को क्रमशः आत्मा के आदेश मानने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। मनुष्य को मन के आदेशों का पालन नहीं करना है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे कि जगने के बाद तथा सोने के पूर्व नित्य ही मन को कई बार जूतों से पीटना चाहिए। इस प्रकार से मन को वश में किया जा सकता है। समस्त शास्त्रों का भी यही आदेश है। यदि मनुष्य ऐसा नहीं करता तो वह मन के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य है। दूसरी प्रामाणिक विधि है गुरु की आज्ञाओं का कठोरता से पालन करना और ईश्वर की सेवा में लगे रहना। इससे मन स्वतः वश में आ जाएगा। श्री चैतन्य महाप्रभु ने श्रील रूप गोस्वामी को उपदेश दिया है कि—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

जब गुरु तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के अनुग्रह से भक्ति-बीज प्राप्त होता है, तो मनुष्य का

असली जीवन प्रारम्भ होता है। यदि वह गुरु की आज्ञा का पालन करता है, तो कृष्ण के अनुग्रह से वह मन की दासता (सेवा भाव) से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत “जड़ भरत द्वारा राजा रहूगण को शिक्षा” नामक ग्यारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।